पुण्यभूमि चित्तौड़ के संस्मरण

□ डॉ. वीरदेव बिष्ट, एम. ए. पीएच. डी.

महर्षि दयानन्द सरस्वती की
उत्तराधिकारिणी
परोपकारिणी सभा
का मुखपत्र

RNI. No. ३९५९/५९

वर्ष : ३६ अंक : ९
भाद्रपद २०५१ वि.
सितम्बर १९९४
दयानन्दाब्द १७०
सृष्टि सं.-१,९६,०८,५३,०९५

प्रधान सम्पादक
गजानन्द आर्य

अवै० सम्पादक
प्रो० धर्मवीर

प्रबन्धक-सम्पादक
डॉ० भवानीलाल भारतीय

प्रकाशक
परोपकारिणी सभा
केसरगंज, अजमेर
फोन : २४५६४

मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक यन्त्रालय
अजमेर --३०५००१
वार्षिक शुल्क : बीस रुपये
विदेश में : ५ पाउण्ड/१० डालर
आजीवन (भारत में रु. २००/-)

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

परोपकारी

अनुक्रम

पुण्यभूमि चित्तौड़ के संस्मरण

☐ डॉ. वीरदेव बिष्ट, एम. ए. पीएच. डी.

प्राची की प्रभा

वह सन् १९६४ के जुलाई मास की एक प्रभात वेला थी जब हम तीन विद्यार्थी, -मैं, प्रकाशचन्द्र तथा उनका छोटा भाई नरेन्द्र उनके पिता श्री अशोक वी. किशोराणि के संरक्षकत्व में रेल द्वारा बम्बई से चित्तौड़ के रेल्वे स्टेशन पर थके हारे उतरे थे। विद्याध्ययन के लिये। गुरुकुल चित्तौड़गढ में प्रविष्ट होने के लिये हमारे मन में उत्सुकता, उमंग तथा स्वाभाविक रूप से नये स्थान के प्रति होने वाले भय व आशंका का पुट भी था। हमें बताया गया था कि गुरुकुलों में हरिण निर्भय होकर घूमते हैं। इससे स्वाभाविक था कि हमारे बाल मन-मस्तिष्क में किसी सघन जंगल की कल्पना घर कर गई थी। उस समय मेरी आयु १२ वर्ष, प्रकाशचन्द्र की १३ व नरेन्द्र की लगभग ८ वर्ष की थी।

कुछ समय तक उजाला होने की आतुर प्रतीक्षा करने के बाद जब हम सब गुरुकुल चित्तौड़ की पावन भूमि में—जिसकी सीमा रेल्वे स्टेशन से लगी हुई है—प्रविष्ट हुई तब ठीक सूर्योदय हो रहा था। भरपूर वर्षा के बाद चारों ओर प्रचुर हरियाली थी। उस पर बालसूर्य की मनभावन किरणें इस दिव्य सौन्दर्य में अभिवृद्धि कर रही थीं। निस्सन्देह वह हमारी कल्पनाओं का मूर्तरूप तो नहीं, पर प्राकृतिक सुन्दरता के इस पहले ही दर्शन ने हमारे सुकोमल बाल मन को अवश्य मोह लिया था। दो एक दिन गुरुकुल के मुख्यद्वार पर स्थित अतिथि-

शाला में बिताने के बाद आवश्यक औपचारिकताओं को पूरा कर हमें प्रविष्ट कर लिया गया। यह हमारी इस तीर्थ यात्रा का प्रथम पुण्य प्रसाद था।

बीजारोपण

इस गुरुकुल की स्थापना पुण्यश्लोक स्वामी व्रतानन्दजी संन्यासी ने महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित आर्षपाठविधि के अनुसार वैदिक वाङ्मय के पाठन के लिये प्रथमतः सन् १९२७ में उदयपुर में तथा दो वर्ष बाद स्थानान्तरित कर चित्तौड़गढ में वर्तमान स्थान पर की थी। श्री स्वामीजी की यह दृढ़ धारणा थी कि महर्षि दयानन्द ने अपने चित्तौड़ भ्रमण के अवसर पर यह इच्छा व्यक्त की थी कि इस वीरभूमि पर एक गुरुकुल की स्थापना हो। गुरुकुल काँगड़ी के अपने विद्याध्ययन काल में ब्रह्मचारी युधिष्ठिर के रूप में ही उन्होंने यह भीष्म व्रत ले लिया था कि वे महर्षि की इस अच्छा को पूरी करने के लिये अपना जीवन समर्पित कर देंगे। आगे जाकर उन्होंने ऐसा किया भी। इसीलिये वे सच्चे अर्थों में "व्रतानन्द" बने।

वही पूजनीय स्वामी व्रतानन्द जी उस समय गुरुकुल के कुलपति तथा आचार्य मेधाव्रतजी कविरत्न गुरुकुल के आचार्य थे। उपाध्यायों में थे सर्वश्री यज्ञदेव वेदवागीश, भीमसेन वेदवागीश, सत्यव्रत वेदवागीश "मनीषी" (सभी इसी गुरुकुल के स्नातक), वीरेश्वर "अभय", प्राणनाथ वानप्रस्थी (अमर शहीद राजपाल के सुपुत्र), सत्यकाम "मुमुक्षु" तथा अत्रिदेवजी आदि।

पुण्य कुलभूमि

"उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्" की वैदिक सूक्ति यहां चरितार्थ होती है। इसके दोनों ओर नातिदूरी पर गम्भीरी और बेड़च नदियां बल खाती बहती हैं। इसके मध्य में स्थित गुरुकुल भूमि शस्यश्यामल, अत्यन्त रम्य व सुन्दर है। सामने कुछ दूरी पर चित्तौड़ का ऐतिहासिक विशाल दुर्ग अरावली पर्वतमाला के शिखर पर गर्व के साथ सिर उठाये खड़ा है, जो सदियों से दर्शकों को बलिदान, देशभक्ति तथा स्वधर्म पर मर मिटने की प्रेरणा देता हुआ युगान्तकारी स्वाभिमानी हिन्दूसम्राट् सूर्यवंशी महाराजाधिराज महाराणा प्रताप के पुण्यप्रताप का स्मरण कराता है। इसमें सन्देह नहीं कि, कुलवासी उसे देखकर मेवाड़ के राजपूतों की वीरगाथाओं का स्मरण कर उनका अनुकरण करने के लिये प्रोत्साहित होते हैं। गुरुकुल के लिये इस भूमि के चयन का मुख्य उद्देश्य भी यही था।

छात्रों के अनुपात से कहीं अधिक भूमि व भवन गुरुकुल के पास थे। तिमंजिला विशाल विद्यालय भवन, उससे थोड़ी दूरी पर किलेनुमा छात्रावास जिसे हम आश्रम कहते थे—फिर एक सुन्दर उद्यान जिसके पास ही पाकशाला व भोजनालय। रेल्वे के साथ लगी हुई भूमि पर एक सुव्यवस्थित गौशाला जिसमें लगभग ५० दुधारू गौएं सदैव रहती थीं जिससे कुलवासियों की दूध की आवश्यकता पूरी होती थी। जंगल की ओर था लम्बा विशाल गोविन्द भवन—जो इसी नाम के किसी प्रख्यात धनपति ने बनवाया था—जिसमें पुस्तकालय भी था। मुख्य द्वार के पास अतिथिशाला। उसके पास ही स्थित एक विशाल वटवृक्ष के पास बनी अतिसुन्दर व्यायामशाला। फिर एक अतिविस्तृत खेल प्रांगण—जिसमें हम प्रायः फुटबॉल खेला करते थे। यहां की कबड्डी खेलने की विधि भी इहलोक से न्यारी थी। हाथ के बजाय एक रुमाल से विपक्षी को छूना होता था, क्योंकि ब्रह्मचारियों को परस्पर स्पर्श करने की अनुमति किसी भी अवस्था में नहीं थी—अतिथिशाला के पास ही एक अति सुन्दर स्नानागार—जिसमें हम सब एक साथ स्नान कर सकते थे—उससे लगा हुआ एक कुआ जिसमें बिजली न आने तक चडस व रहट की व्यवस्था थी। बिजली आने के बाद आधुनिक यन्त्रों से पानी

निकाला जाने लगा। यही एक विहंगम दृष्टि है इस पुण्यभूमि पर।

सभी भवन अतिसुन्दर राजस्थानी काले व सफेद पत्थर पर की गई कारीगरी के बेजोड़ नमूने हैं। इनको देखकर पर्णकुटियों से बने सन्दीपनी ऋषि के आश्रम की नहीं, राजकुमारों के प्रशिक्षण के लिये बने आचार्य द्रोण के राजप्रासादस्थ गुरुकुल की स्मृति हो आती है।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल के पास सैंकड़ों बीघा कृषि योग्य भूमि तो थी ही जिसमें प्रायः सभी प्रकार के धान्य, फल तथा ऋतु अनुकूल सब्जियां उगाई जाती थीं।

वेदारम्भ

उसी वर्ष श्रावणी के अवसर पर, परम्परा अनुसार नये ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार वैदिक विधि पूर्वक सुसम्पन्न हुआ। हमारे दीक्षागुरु तथा मन्त्रदाता थे स्वनामधन्य आर्य कविरत्न महाकवि आचार्य श्री मेधाव्रत जी। उस समय हमें उनकी महत्ता का तनिक भी ज्ञान न था पर आज मैं जब उस तीस वर्ष पुरानी सुखद घटना का स्मरण करता हूँ तो अपने सौभाग्य पर भाव विभोर हो जाता हूँ कि ऐसे महापुरुषों की छत्रछाया हमें सहज ही प्राप्त थी। ठीक संख्या तो अब ध्यान नहीं पर उस वर्ष हम लगभग १०-१५ विद्यार्थी थे शिक्षार्थी बटुक। यद्यपि मेरा यज्ञोपवीत संस्कार तो चैम्बूर आर्य समाज, बम्बई में श्री पं० जयदेवजी के निर्देशन में पहले ही हो चुका था, पर नेपाली क्षत्रिय परम्परा अनुसार मेरा "जंगबहादुर" नाम गुरुकुल की ललित नामावली के अनुकूल न था। इस अवसर पर इसका सरल समाधान कुलपति जी के आदेशानुसार हमारे व्यायाम प्रशिक्षक व दिनचर्या के नियमित निरीक्षक उपाध्याय श्री वीरेश्वर जी "अभय" ने कर दिया। उस नाम का अर्थ बदले बिना उन्होंने अक्षर बदल दिये तथा "वीरदेव" यह शुभ नाम दिया।

नियमित विद्यालय काल में अध्ययन के लिये विद्यालय-भवन जाने के अलावा हमारा अधिकांश समय छात्रावास (आश्रम) में बीतता था। इसके एक कोने में विद्यालय की ओर आश्रमाध्यक्ष का निवास स्थान भी था, जिससे लगभग सटा हुआ औषधालय। दूसरी ओर भण्डारगृह, मध्य में पत्थरों के फर्शवाला बृहत् प्रांगण—जिसमें हम व्यायामशाला बनने से पहले तक व्यायाम तथा सायंकालीन भोजन के बाद का श्लोकोच्चारण पूर्वक भ्रमण किया करते थे। एक ओर व्यायाम के विभिन्न साधन लाठी, भाला, तलवार, झेहलम रखने के लिये कक्ष। लोहे के दरवाजे और खिड़कियां वहां की विशेषता थी। मुख्य बड़ा द्वार एक किले के दरवाजे के समान था जो पश्चिम में जंगल की ओर खुलता था। आश्रम के उत्तर में विद्यालय और दक्षिण में भोजनालय आदि थे।

उस समय हम लगभग ६० छात्र गुरुकुल में विद्याध्ययनरत थे। जो बम्बई, बड़ौदा, रतलाम, इन्दौर, बंगाल, उड़ीसा तथा शेष राजस्थान के थे। मैं एकमात्र विद्यार्थी नेपाल से था। इसलिये प्रायः सभी गुरुजन बड़े गौरव से अतिथियों को मेरा परिचय दिया करते थे कि "यह विद्यार्थी नेपाल का है।" इससे तथा अपने विनीत स्वभाव के कारण भी शीघ्र ही मैं उन सबका प्रियपात्र बन गया था।

प्रातः ४ बजे से रात्रि ९ बजे तक की नियमित दिनचर्या यद्यपि उस सुकोमल बाल्यावस्था को अत्यन्त थका देने वाली होती थी, पर गुरुओं के प्रबल वात्सल्यभाव तथा सहपाठियों के स्नेह व्यवहार के वातावरण में यह सब सुरुचिकर लगता था।

व्रताभ्यास

पूज्यपाद स्वामी व्रतानन्दजी महाराज की दृष्टि में विद्या व व्रत दोनों का एक समान महत्त्व था। वे चाहते थे कि उनके विद्यार्थी जहां विद्या पढ़कर विद्वान् बनें, वहां साथ ही सदाचारी, कर्त्तव्यपरायण, धार्मिक और तपस्वी भी हों। इसीलिये विद्या के

साथ-साथ व्रत की शिक्षा लेना व परीक्षा देना हमारे लिये अनिवार्य था जो केवल इसी गुरुकुल की विशेषता है। इसे व्रताभ्यास कहा जाता था। हमारे उपाध्याय परोक्ष रूप से वर्षभर की हमारी गतिविधियों को दृष्टिगत रखते हुए हमारा मूल्यांकन करते थे और इसी अंक प्राप्ति के वरीयता क्रमानुसार—चाहे वह किसी भी कक्षा का विद्यार्थी हो—हमें संध्या-हवन, सभा व भोजन आदि की पंक्ति में बैठने का अधिकार होता था फलतः हम सभी स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धात्मक वातावरण में सदैव प्रगति के लिये लालायित रहते थे।

तापस आश्रम जीवन

आमश्र में सभी के लिये भोजनाच्छादन की समान व्यवस्था थी। हम सब तख्तों पर सोते थे। भूमि पर नहीं सोते थे। चालीस रुपये प्रतिमास प्रत्येक विद्यार्थी से शुल्क लिया जाता था। जो वहाँ के सुस्वादु भोजन (दूध, घी सहित) तथा सुस्वास्थ्यकर, सुन्दर तथा आरामदायक आवास व्यवस्था को देखते हुए नगण्य ही कहा जा सकता था। मेरा यह खर्च चैम्बूर आर्यसमाज, बम्बई मेरे चित्तौड़गढ़ के अध्ययनकाल तक देता रहा। इसी शर्त पर मेरे परिवार ने मुझे गुरुकुल भेजना स्वीकार किया था। ऐसा करके उस समाज ने मुझ पर उऋण न हुआ जा सकने वाला ऋण लगाया है। केवल आर्थिक सहायता की दृष्टि से ही नहीं (वह तो आधुनिक शिक्षा पर खर्च करने के लिये पिता भी समर्थ व तैयार थे, इसीलिये सुदूर नेपाल राष्ट्र से मुझे बम्बई लाया गया था। वस्तुतः उस समय इस प्राचीन विद्या प्रणाली के महत्व को समझ पाना मेरे पिता की जमींदारी बुद्धि की सीमा से बाहर था) अपितु आधुनिक भारत के महान् निर्माता महर्षि दयानन्द की दिव्यदृष्टि का प्रकाश मुझे अनायास ही प्राप्त कराने के लिये। जिस विद्या ने मुझे जीवन का दृष्टिकोण प्रदान किया, फलतः जीना सार्थक हुआ। मुझे यहां यह कहने में भी कोई संकोच नहीं कि यह विद्या मेरे लिए अर्थकारी भी सिद्ध हुई जो इसका मुख्य ध्येय नहीं है।

वहां किसी भी छात्र को पैसा साथ रखने की अनुमति नहीं थी। वस्तुतः गुरुकुल हमारी सभी आवश्यकताओं को पूरा कर देता था, अतः किसी को भी साथ में धन रखने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। इस नियम का मूल उद्देश्य तो अनासक्ति योग की शिक्षा देना तथा साथ ही विद्यार्थियों को नून-तेल-अदरक के दैनिक झंझटों से पूर्णतः मुक्त रखना भी था।

किसी के माता-पिता तथा अभिभावक आने पर जो फल-मिष्ठान्न साथ लाते थे वह किसी भी विद्यार्थी को अकेले खाने की अनुमति कदापि नहीं थी। वह प्रथम आश्रमाध्यक्ष को सौंपना होता था, जिसे वे सभी छात्रों में समान रूप से प्रसादरूप में बाँट देते थे। मेरे वहाँ के अध्ययन प्रवास काल में (सन् १९६४ से १९६९ तक) मेरे पिता श्री वजीरसिंह बिष्ट मुझसे मिलने केवल एक बार आये थे। नियमों का ज्ञान न होने के कारण वे मात्र मेरे लिए कुछ मिठाई लाये थे जो वितरण के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसलिए मैंने उन्हें वापस भेजकर कुछ अधिक चीजें खरीदकर लाने को कहा था। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है वे एक बैलगाड़ी भरकर खरबूजे व तरबूजे लेकर आये थे, जिसे देखकर आश्रमाध्यक्ष ने पिताजी से कहा था कि आपने तो एक ही बार में अनेक वर्षों की कसर निकाल दी। हमने वे फल: प्रसादरूप में नहीं, पेट भरकर खाये थे।

अन्य गुरुकुल शिक्षण संस्थाओं के विपरीत यहाँ सुस्वादु भोजन तथा ऋतु अनुकूल फलों की उत्तम व्यवस्था थी। उस पर समय-समय पर कुल भूमि के दर्शनार्थ आने वाले श्रद्धालु, अतिथिगण विशेष भोजन का प्रायोजन करते थे। जिसमें खीर पूड़ी, हलवा, गुलाबजामुन, मोहनभोग आदि विविध पकवान्न सम्मिलित होते थे। सच कहूं तो, वैसा स्वादिष्ट भोजन जीवन में फिर बार-बार

खाकर भी वसा स्वाद फिर कभी नहीं आया। चन्द्रकला की भांति बढ़ती आयु भी शायद इसका कारण रही हो।

आश्रम जीवन में प्रत्येक विद्यार्थी को न केवल अपने कर्म (बर्तन साफ करना, कपड़े धोना आदि) स्वयं करने होते थे अपितु इसके अतिरिक्त उसके अन्य दैनिक सेवा कर्त्तव्य भी होते थे। संध्याहवन के लिए यज्ञ स्थल की सफाई करना समिधा काटकर लाना, हवन के पात्र मांजना, बिजली न आने तक लालटेन साफ करके उचित समय पर जलाना-बुझाना, किसी एक गुरु की सेवा में रहकर उनके लिए पाकशाला से भोजन लाना तथा उनके भोजन ग्रहण कर लेने के बाद बर्तन मांजना आदि इनमें प्रमुख हैं। ये सेवाएं सबको एक ही समय में नहीं प्रत्युत पारी परिवर्तन के साथ बारी-बारी से करने होते थे। जिससे सबको सब काम में निपुणता प्राप्त हो जाये और साथ ही सब आत्मनिर्भर भी बन सकें। यहां पाठक यह भी न भूलें कि प्रदत्त सेवा कार्य में शिथिलता व लापरवाहरी का अर्थ दण्ड के लिए तैयार रहना भी होता था, जो विभिन्न रूप में होता था-कान पकड़कर उठक-बैठक करने से लेकर, प्रातराश से हाथ धोना-जिसमें प्रायः अति स्वादिष्ट दलिया होता था तथा सैकड़ों बार गायत्रीमन्त्र के जप करने तक। इसकी मात्रा अपराध की गम्भीरता पर निर्भर होती थी। यह सब आत्मानुशासन के लिये कोमलहृदयों को पढाया जानेवाला अमिट पाठ था।

दिनचर्या की प्रत्येक गतिविधि भिन्न-भिन्न वैदिक प्रार्थना के साथ प्रारम्भ होती थी- प्रातःकाल जागरण, व्यायाम, दन्तधावन, स्नान स्वाध्याय, विद्यालय का आरम्भ भोजन, यात्रा, शयन आदि। जागरण मन्त्रों के पाठ के बाद प्रतिदिन एक ईश्वर भक्ति का भजन गाया जाता था। इस प्रकार हमें ३१ भजन कण्ठ थे। भजन के शीर्षक से दिनांक की जानकारी रहती थी। प्रति-दिन प्रातः-सायं सामूहिक रूप से सन्ध्या हवन करना अनिवार्य था। इसमें कभी कोई अवकाश न होता था। दोनों समय यज्ञ के बाद एक विशिष्ट शैली में-तार, मध्यम व अवर गति में-निश्चित संख्या में वेद मन्त्रों का पाठ करना अनिवार्य था। एक मन्त्र गुरु अभय जी तथा एक मन्त्र सभी विद्यार्थी, इस प्रकार चारों वेदों का वर्ष भर में पारायण हो जाता था। इस प्रविधि से हमें वेद मन्त्रों के शुद्धोच्चारण में प्रवीणता व अधिकारिक सिद्धहस्तता प्राप्त हो गई। जो आजीवन ज्ञानास्त्र के रूप में हमारी विविध प्रकार से रक्षा कर रहा है। इस शैली को मैं अपने साथ, मेरे आगामी विद्याध्ययन केन्द्र गुरुकुल झज्जर भी ले गया तथा वहाँ भी इसका प्रचलन किया। यद्यपि आज मैंने अपने अनुभव से इसमें कुछ आंशिक परिवर्तन कर एक स्वतन्त्र नई शैली का विकास कर लिया है, पर इसकी मूलभित्ति का आधार वही दैनिक वेदपाठ है। (क्रमशः)

—प्राचार्य, कॉलेज ऑफ वैदिक स्टडीज,
दक्षिण अफ्रीका, डरबन

[शेष पृष्ठ २३४ का शेष भाग]

यह एक शाश्वत विश्वसम्मत सत्य है जो मात्र हिन्दुओं को ही नहीं, अपितु विश्व के सभी धर्मों को एक सूत्र में बांध सके। धर्म और विज्ञान से सर्वतः पूर्ण सामन्जस्य घोषित करते हुए दयानन्द ने इस विज्ञान के युग में धर्म का विज्ञान परक नया स्वरूप स्थापित किया।

दयानन्दजी की श्रेष्ठता और उनके संदेश की अनिवार्यता को विश्व धीरे-धीरे अनुभव कर रहा है। शीघ्र हम देखेंगे कि दयानन्दजी नवभारत के संस्थापक (निर्माता) ही न थे, अपितु विश्व के मसीहा थे।

—पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी

पुण्यभूमि चित्तौड़ के संस्मरण-२

☐ डॉ. वीरदेव बिष्ट, एम. ए. पीएच. डी.

भोलेबाबा अभयजी

हम प्रारम्भिक कक्षाओं के छात्रों को अधिकांश समय गुरु वीरेश्वर जी 'अभय' ही पढाया करते थे। प्राथमिक कक्षा का पाठ्यक्रम राजस्थान सरकार के शिक्षा नियमों के आधार पर ही था। जिससे हमें राजस्थान के गौरवमय इतिहास, भूगोल, संस्कृति के अतिरिक्त गणित तथा अंग्रेजी का अध्ययन तो करना ही पड़ता था, साथ ही संस्कृत नैतिक शिक्षा के पाठ व पाणिनीय अष्टाध्यायी भी कण्ठ करनी पड़ती थी। श्री अभयजी की अष्टाध्यायी कण्ठ कराने की भी एक विशिष्ट शैली थी, जिससे कम समय में अधिक सूत्र कण्ठ किये जा सकते थे। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उन्हें स्वयं को अष्टाध्यायी, धातुपाठ तथा यजुर्वेद आदि कण्ठ थे। यह उन्हीं की पुण्य प्रेरणा का फल था कि हमें किशोरावस्था में ही सैकड़ों श्लोक, मन्त्र, सूत्र तथा सूक्तियां कण्ठ थीं। यदि सच कहूं तो उसके बाद इसमें वृद्धि नहीं हुई शायद ह्रास ही हुआ होगा। इसका परिणाम था १२ फरवरी १९७२ को गुरुकुल झज्जर में स्वामी दयानन्द की मानवाकृति-मूर्त्ति के पास बैठकर मात्र ५८ मिनट में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का कण्ठपाठ गुरुभाई श्री विक्रमकुमार विवेकी को सुनाकर मैंने सबको चकित कर दिया था। बाद में ऐसे ही धातुपाठ को भी स्मरण किया। इससे अन्य विद्यार्थियों को भी प्रेरणा मिली।

श्री अभयजी अति कोमल हृदय के, हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले तथा वात्सलता की प्रतिमूर्त्ति थे। अतः छात्रों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे। थोड़ा सांवला रंग, अनुपात में छोटा कद। अश्वारोहण-मल्लविद्या तथा प्राचीन धनुर्विद्या के वे मर्मज्ञ वेत्ता थे। वे हमारे व्यायाम प्रशिक्षक तथा दैनिक दिनचर्या के नियमित निरीक्षक थे। अतः प्रातः जागरण से सायं शयन तक हमारे साथ ही रहते थे। हां, सोने के लिये गोविन्द भवन में अपनी कुटिया में जाते थे (यद्यपि गोविन्द भवन की भव्यता किसी राजप्रासाद से कम नहीं थी, पर गुरुजी के आवास को कुटिया कहा जाता था)। तब सम्पूर्ण रात्रि तथा स्वाध्याय आदि दैनिक कार्यों में हमारे आश्रमाध्यक्ष श्री सत्यकाम 'मुमुक्षु' उनकी अनुपस्थिति में हमारे संरक्षक होते थे। श्री मुमुक्षुजी आयुर्वेदशास्त्र में और योगविद्या में सिद्धहस्त थे। अतः कुलपतिजी उन्हें प्रेम से धन्वन्तरि व पतञ्जलि का समन्वित रूप कहा करते थे। आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण कर छात्रों की चिकित्सा का उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर था। बाहरी एलोपेथिक डॉक्टर की वहां न पहुंच थी न ही अनुमति।

कहते हैं एक बार जब पूज्यपाद स्वामी व्रतानन्दजी महाराज भागलपुर बिहार के भ्रमण पर थे, तो वहां के एक अनाथालय के निरीक्षण के अवसर पर उनकी दृष्टि बाल अभयजी पर पड़ी और वे इनकी तीक्ष्ण बुद्धि से अति प्रभावित हुए तथा इनको अपने साथ चित्तौड़ ले आये। श्री स्वामीजी ही अभयजी के माता-पिता व गुरु थे। माध्यमिक शिक्षा के बाद व्यायाम आदि में इनकी विशेष रुचि को देखकर उच्च वैदिक शिक्षा के स्थान पर उन्हें महाराज बड़ौदा के राजकीय व्यायाम महाविद्यालय में अध्ययन के लिए भेजा गया। जहाँ अन्य क्षत्रिय राजकुमारों के साथ इनको भी धनुर्विद्या की सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त हुई इस भट्ठी में कुन्दन बनकर वे गुरुकुल के यशस्वी व्यायाम प्रशिक्षक के रूप में वापस लौटे। उनकी ईश्वर भक्ति ऐसी थी कि प्रातः यज्ञ पर पूर्णाहुति के बाद 'वैदिक विनय' का दैनिक पाठ करते समय प्रायः

वे श्रद्धातिरेक से रो पड़ते थे और उनका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता था। उनका जीवन अति संयमी, सुसंस्कृत, स्वच्छ, निर्मल और सुघड़ था। यहां तक कि हाथ की घड़ी खोलकर भूमि पर रखने का भी उनका अपना ही तरीका था। ब्रह्मचारी थे, प्रतिदिन हजारों दण्ड बैठक किया करते थे। वे आधुनिक युग के द्रोणाचार्य थे। महान् धनुर्धर। ऐसे ओजस्वी आचार्य के संरक्षण में योगासन, योगविद्या, प्राणायम तथा लाठी, भाला, तलवार व धनुषबाण आदि पूर्वीय धनुर्विद्या की नानाविध शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होना किसी एक जन्म के पुण्य का फल नहीं हो सकता। जलते हुये लोहे के चक्र में से निकलते समय पकड़ने वाले की भूल से उसमें फंसकर मैं अपनी जांघ बुरी तरह जला बैठा था। वह चिह्न इस शरीर के अन्त तक साथ तो रहेगा ही, साथ ही यह गुरुचरणों की स्मृति का अनुपम प्रसाद भी बन गया है।

बालसखा

गुरुकुल चित्तौड़ की शैक्षिक उपाधियां थीं—वेदाधिकारी (कक्षा १०), वेदवागीश और शास्त्री (कक्षा १६) तथा बृहस्पति (वेदवागीश के बाद एक वर्ष का अनुसन्धान कार्य व निबन्ध लेखन)। हमारे कुछ वरिष्ठ गुरुभाइयों में थे सर्वश्री बुद्धदेव और धीरेन्द्र जो उस समय वेदवागीश—गुरुकुल की स्नातक उपाधि के छात्र थे। धीरेन्द्रजी काषाय वस्त्रों में ब्रह्मचारी के रूप में रहते थे। सुन्दर सुडौल शरीर वाले थे। बुद्धदेवजी श्वेत वस्त्र पहनते थे तथा दुबले पतले थे। इन दोनों का आवास गोविन्द भवन में पृथक् से था। भोजन आदि हम सभी के साथ करते थे। दस कक्षा तक के छात्र सफेद निकर व कुर्ता पहनते थे। उच्च कक्षा के कटिवस्त्र तथा कुर्ता। कक्षा ९-१० के छात्रों में प्रमुख थे, सर्वश्री बलदेव, सत्यदेव, रामचन्द्र (नीमच) तथा गोपालदेव, सुधाकर, चन्द्रदेव, रामेश्वर, अंशुमान, प्रकाशचन्द्र तथा देवसेन (गुरु श्री भीमसेन वेदवागीश के सुपुत्र) आदि मेरे सहपाठी थे। हमसे छोटी कक्षा में नरेन्द्र व यज्ञसेन (देवसेन का छोटा भाई) आदि थे। इनमें से अधिकांश के साथ १९६९-७० से पूर्णतः सम्पर्क टूट जाने के कारण ये सभी अब कहां हैं और क्या कर रहे हैं इसकी मुझे तनिक भी जानकारी नहीं है। इस लेख के प्रकाशित होने पर इनमें से कोई मुझे पत्र लिखे तो मुझे अति प्रसन्नता होगी।

पूजनीय गुरुवृन्द

थोड़ी बड़ी कक्षा में आने पर हमने श्री मुमुक्षुजी से अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति का अध्ययन शुरू किया था। लगभग उन्हीं दिनों श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा लिखित उक्त नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। पञ्चतन्त्र की कथाएं हमारे पाठचक्रम में थीं। श्री अभिदेवजी से गणित का सामान्य अभ्यास सीखा। श्री प्राणनाथ वानप्रस्थी—अमर शहीद राजपाल के सुपुत्र तथा महापुरुषों की जीवनी पर एक पुस्तकमाला के सुप्रसिद्ध लेखक—हमें भूगोल, इतिहास, हिन्दी साहित्य तथा स्वास्थ्य विज्ञान पढ़ाते थे। वे हमें रामायण, महाभारत तथा ऐतिहासिक वीर महापुरुषों की अमर गाथाएं बहुत ही मनोरंजक ढंग से सुनाते थे। हम सब छात्र कहानी सुनने के लिये उनको ऐसे घेर कर बैठ जाते थे जैसे घरों में बच्चे दादी माँ को। मध्यकालीन भक्ति साहित्य से वे अत्यन्त प्रभावित थे। सन्ध्या के समय ध्यानावस्थित अवस्था में उनका तेजस्वी गौर मुखारविन्द भावातिरेक में अश्रुओं से भीग जाता था।

अन्य गुरुजन उच्च श्रेणी के छात्रों को ही पढ़ाते थे इसलिये उनसे हमारा उतना सम्पर्क न हो पाता था। कुलभूमि में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी व संन्यासी गुरुओं के आवास की व्यवस्था तथा अनुमति थी। अतः सर्वश्री सत्यव्रतजी, भीमसेनजी तथा अभिदेवजी गृहस्थी होने के कारण गुरुकुल

से बाहर परिवार सहित रहते थे। मात्र विद्यालय के पठन-पाठन काल में ही वे वहां आते थे।

शिष्टाचार

हमें वैदिक परम्परा अनुसार यह शिक्षा दी गई थी कि, गुरुजन, माता-पिता व वयोवृद्धों के नाम का उच्चारण करना अशिष्टता, धृष्टता तथा अपशब्दों के अपलाप के समान है। इसलिये हम उन्हें कुलपतिजी, स्वामीजी, पंडितजी, गुरुजी, उपाध्यायजी तथा यदि उनका कोई प्रिय उपनाम हो तो 'अभयजी' 'मुमुक्षुजी' 'मनीषीजी' आदि से सम्बोधित करते थे। यहां तक कि अपने वरिष्ठ सहपाठियों को 'भ्राताजी' कहकर सम्बोधित करना होता था।

कुलपिता

पूजनीय कुलपतिजी का यह कठोर आदेश था कि कोई भी कुलवासी चाहे वह बड़ा हो या छोटा, गुरु हो या शिष्य किसी से 'जी' व 'आप' लगाये बिना बात न करे। वे स्वयं भी सभी विद्यार्थियों को 'महाराजजी' कहकर ही सम्बोधित करते थे। उनकी यही करुणा, प्रेम, वत्सलता सभी छात्रों की दृष्टि में, उनको उनके महिमामय कुलपतित्व से भी ऊंचे, मातृत्व के गरिमामय पद पर प्रतिष्ठापित करता था। यही कारण था कि वे जब कभी भी गुरुकुल के कार्यों से—अर्थसंकलन तथा अन्य प्रशासनिक—बम्बई, दिल्ली, जयपुर, उदयपुर आदि प्रदेशों के भ्रमण से लौटते थे तो सारा कुल हर्षोल्लास से उनको घेर लेता था। सबसे पहले उनके चरणस्पर्श करने की होड़ सी लग जाती थी। अधिनायक वृत्ति का कोई भय-त्रास वहां नहीं था। सदैव मुण्डित केशश्मश्रु। बालसूर्य की भांति चमकती हुई उनकी मुखाकृति। हाथ में दण्ड, लम्बा भगवा चोगा। औसत कद। ऊंची गुरु गम्भीर ओजस्वी वाणी। उनकी यही दिव्य विभूति मेरे मन-मस्तिष्क में बसी हुई है। कभी कुल में कभी प्रवास में उन तपःपूत चरणों की यत्किञ्चन सेवा का महान् पुण्यलाभ इस अकिंचन को भी प्राप्त हुआ था। उनके प्रवचन अतिमधुर, हृदय को छूने वाले तथा वैदिक सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्था-निष्ठा को प्रेरित करने वाले होते थे। दान मांगने की कला में वे ऐसे दक्ष थे कि बड़े से बड़े कंजूस भी उनके आगे अपनी झोली खाली करके गंगा नहा लेते थे। वे न केवल गुरुकुल चित्तौड़ के संस्थापक व संचालक थे अपितु कन्या गुरुकुल नरेला तथा कन्या गुरुकुल दाधिया भी उन्हीं की प्रेरणा की प्रसूति हैं। उनकी बहुमूल्य सेवाओं का लाभ गुरुकुल झज्जर एवं गुरुकुल भैंसवाल आदि अन्य अगणित शिक्षण संस्थाओं को भी मिला है।

उन परम पावन, साधुमना, निर्लेप संन्यासी श्री स्वामी व्रतानन्दजी महाराज के ११ अक्तूबर १९८० के दिन ब्रह्मलीन होने का दुःखद समाचार, मेरे अनन्य गुरुभाई श्री प्रकाशचन्द्र वेदालंकार ने पत्र द्वारा मुझे दिया था। तब मैं त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमाण्डू (नेपाल) में संस्कृत साहित्य तथा व्याकरण शास्त्र का प्राध्यापक था तथा साथ ही आर्यसमाज, नेपाल के अध्यक्ष के रूप में नेपाल में वैदिक धर्म के नवजागरण के कार्य में संलग्न था।

महाकवि का महाप्रयाण

इसी दुःखद प्रसंग में मैं यहां यह भी उल्लेख कर दूं कि महाकवि आचार्य मेधाव्रतजी का, जो उस समय गुरुकुल चित्तौड़ के आचार्य पद को सुशोभित कर रहे थे—लम्बी बीमारी के बाद २१ नवम्बर १९६४ के दिन गुरुकुल में ही ७२ वर्ष की आयु में देहावसान हुआ था। दाहसंस्कार पूर्ण वैदिक रीति से गुरुकुल के उपाध्यायों द्वारा हुआ। सभी विद्यार्थी भी मन्त्रपाठ में सहयोगी थे। मेरी स्मृति में यह पहली शवयात्रा थी जिसमें मैं सम्मिलित हुआ था।

आचार्य श्री मेधाव्रतजी की वाणी कवि के अनुरूप अति मधुर थी। उनका कविता पाठ मन को मोह लेने वाला होता था। ऊँचा लम्बा स्फूर्ति-

युक्त दुबला शरीर। तेज लम्बी नुकीली नाक। उस पर लम्बी सफेद दाढी। वानप्रस्थाश्रमी थे इसलिये हल्का पीलापन लिये हुए स्वच्छ वेशभूषा धारण करते थे। उनकी यह छवि उन्हें सहज ही प्राचीन ऋषि मुनियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देती थी। मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि आर्य जगत् की यह विभूति गुरुकुल वृन्दावन की देन थी। "दयानन्द-दिग्विजयम्" आदि दर्जनों ऐतिहासिक काव्यग्रन्थों के प्रणयन के अतिरिक्त वे गुरुकुल चित्तौड़ से पहले सूरत के हिन्दी विद्यालय (प्राध्यापक), बड़ौदा कन्या महाविद्यालय (आचार्य) तथा अन्य विभिन्न शिक्षण संस्थाओं की भी सेवा कर चुके थे।

सन्तों के दर्शन

तब विद्यालय का अवकाश अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन होता था। अवकाश का अर्थ वस्तुतः विद्यालय भवन न जाना मात्र होता था निरन्तर स्वाध्याय तथा आश्रमाध्यक्ष के निरीक्षण में तो हमें सदैव रहना ही पड़ता था। शुक्रवार कपड़े धोने का दिन था। शनिवार वाग्वर्द्धिनी सभा हुआ करती थी। जिसमें हमें वक्तृत्वकला में निपुण बनने का प्रशिक्षण मिलता था। शुरू-शुरू में हम बड़ी कक्षाओं के छात्रों के भाषण मात्र सुना करते थे। बाद में हम भी इसमें बढ़चढ़ कर भाग लेने लगे। इसके अतिरिक्त समय-समय पर गुरुकुल के दर्शनार्थ आने वाले साधुसन्त, विद्वान् तथा भजनीक वर्ग द्वारा उपदेश, प्रवचन, भाषण व भजन-कीर्तन होते ही रहते थे। हमारी बालबुद्धि उन सबके अभिप्रायों को पूरी तरह समझ पाने में तो असमर्थ थी, पर इसका हमारे भविष्य पर उल्लेखनीय अनुकूल प्रभाव पड़ा है इसमें कोई सन्देह नहीं।

उन अभ्यागतों में कुछ तपस्वी सन्तों का स्मरण मुझे कदापि नहीं भूलता। एक थे स्वामी सर्वानन्दजी, जो कट्टर आर्यसमाजी विचारों के थे। वे समय-समय पर गुरुकुल भ्रमण पर आते रहते थे। भजन गाते थे। लगभग ५०-५५ की उम्र रही होगी उनकी पर नियमित व्यायाम व योगासन करने से अतिसुडौल शरीर के कारण वे मात्र चालीस के लगते थे। कहीं-कहीं सफेद बाल झांकते थे। उनका कहना था कि पिछले २५ वर्षों से वे न केवल शाकाहारी व दुग्धाहारी हैं अपितु कच्चाहारी भी हैं। यहां तक कि दूध भी बिना गरम किया हुआ ही पीते थे। उनकी सेवा करना अति सरल था, ताजी सब्जियां तथा ऋतु अनुकूल फल अच्छी तरह प्रक्षालित कर स्वच्छपात्र में रख दीजिये। वे चबा-चबाकर बहुत समय लगा कर यह भोजन करते थे। इस अन्तहीन दुनिया में ऐसे लोग और भी होंगे, पर लगभग सारा संसार घूम लेने के बाद भी मैंने अपने जीवन में ऐसा तपस्वी फिर कभी नहीं देखा।

दूसरे थे श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज जो मात्र एकबार गुरुकुल पधारे थे। कट्टर सनातनी जगत् में उनको देवताओं की तरह पूजा जाता था। कुलपति जी की कार्य-प्रणाली से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के दर्शनार्थ आये थे। उनके साथ उनकी पूरी मण्डली थी। दण्ड उठाने से लेकर चंवर डुलाने तक के लिये उनके सेवक थे। कहते हैं, उस समय उनके स्तर का कथावाचक भारत भर में कोई न था। इन कथाओं में हजारों भक्तगण कभी-कभी महीने भर निरन्तर चलने वाली कथा सुनकर भी नहीं अघाते थे। ऊंचा कद, थोड़ी लालिमा लिये गौरवर्ण, विशाल भाल। भारी भरकम काया पर काषायवस्त्र उनको खूब फब रहे थे। उन दिन श्री मुख से "कच और देवयानी की कथा तथा इसका ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध" विषय पर लम्बा पर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देने वाला प्रवचन हुआ था। उनके इस गम्भीर दार्शनिक विवेचन को मैं चाहे अच्छी तरह समझ

नहीं पाया हूँगा पर कांस्यपात्र की ध्वनि जैसी उनकी आवाज की कड़क आज भी मेरे कानों में गूंजती सी अनुभव होती है।

एक अन्य संन्यासी स्वामी कृष्णानन्द जी सरस्वती कुछ समय कुल में रहे थे। उनको विज्ञान का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने किसी द्रव्य को जलाकर उससे वायु का निर्माण कर एक विशाल गुब्बारे को आकाश में उड़ाने का प्रदर्शन करके, उस एकान्त की दुनिया के लोगों को न केवल दांतों तले अंगुलि दबाने को विवश कर दिया था अपितु उनके लिये वे साक्षात् आईंस्टाईन बन गये थे।

वेदों के प्रकाण्डपण्डित एवं वेद तथा निरुक्त के सुप्रसिद्ध भाष्यकार स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक भी समय-समय पर गुरुकुल आते रहते थे। कभी लम्बे समय के लिये तथा कभी छोटी अवधि के लिये। बड़ी कक्षा के छात्रों को पढ़ाते भी थे। उनको विशेष प्रकार से बनाई गई लौकी की खीर बहुत पसन्द थी। हम छोटे विद्यार्थियों को यही एक लाभ था कि कभी-कभी उस प्रसाद का स्वाद चखने का मौका हमें भी मिल जाता था। गुंजा की माला में रमने वाले को मोतियों की लड़ियों से क्या काम ?

देशाटन

ग्रीष्मावकाश में हमें भारतभ्रमण कराया जाता था। इस सन्दर्भ में हम राजस्थान के विभिन्न नगर, ऐतिहासिक किले तथा अन्य पर्यटनस्थल तो देखने जाते ही थे साथ ही बम्बई, बड़ौदा, रतलाम कानपुर, विशाखापट्टनम्, कलकत्ता, कामाख्या, सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग, गोहाटी, बनारस तथा नागालैंड आदि तक का भ्रमण हम अपनी किशोरावस्था में ही कर चुके थे। हमें इस शैक्षिक भ्रमण पर अपनी डायरी लिखनी होती थी तथा इस पर बाद में निबन्ध भी लिखना होता था। यही अनुशासन हमारे लिये इस भ्रमण का किरकिरापन था। वहां रहते हमने अजमेर, आमेर, पुष्कर, जयपुर, उदयपुर, हल्दीघाटी, नाथद्वारा तथा आबू पर्वत आदि स्थलों की तो एकाधिकबार यात्राएं की थीं।

प्रकृति की गोद में

पर सबसे रोचक एवं उमंगभरी लघुयात्राएं तो स्वयं चित्तौड़ के परिसर की होती थीं। लगभग दस किलोमीटर दूर सघन वन में स्थित केलझर हमारा सर्वाधिक प्रिय भ्रमण स्थल था। श्री अभय जी आदि उपाध्यायों के नेतृत्व में हमारा दल पैदल ही यह यात्रा करता था। भैरव गोपी आदि में से कोई एक पाचक भी साथ रहता था। कभी-कभी हमारे भण्डारी जी, श्री हंसराज जी भी (जिनके एक हाथ का अंगूठा नहीं था) हमारे साथ होते थे। जाते समय जंगल में सूखे गोमय और लकड़ियां जोड़ते जाते थे। गुरुजन घी खरीदते थे। घी आठ रुपये का सेर था। बाद में बारह रुपये तक हो गया था। केलझर—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, केलों के झुरमुट में से एक झरना बहता था। एक तरफ विशाल पहाड़, वहां मूर्त्तियां अवश्य थीं पर कोई मन्दिर न था। दो चार गुफाएं अवश्य थीं जो पानी पड़ने पर सबकी शरणस्थली बन जाती थीं। गगनचुम्बी सघन वृक्षों की छाया में दाल, बाटी, चूरमे का भोजन जो अमृत तुल्य घी में प्रायः डूबा हुआ होता था। उस पर थके हारे हम विद्यार्थी। उस स्वाद का वर्णन कल्पनातीत है। वह तो मात्र अनुभवजन्य है।

उसी प्रकार हम लगभग प्रतिमहीने गम्भीरी नदी को लांघकर चित्तौड़ के ऐतिहासिक दुर्ग पर तो ऐसे चढ़ जाते थे जैसे सुग्रीव की वानरी सेना ऋष्यमूक पर्वत पर। विजयस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, पद्मिनी-महल, सतियों का पवित्र जौहर स्थल, पुण्यश्लोक हिन्दूसम्राट् महाराणा प्रताप की लगभग भग्नावशेष जन्मस्थली तथा मीरा का कृष्ण मन्दिर आदि के दर्शन कर गोकुण्ड में स्नान अवगाहन हमारी नियमित दिनचर्या का अंग सा था।

ऐसे ही नीली श्रध्ये की यात्रा जहां एक विशाल जल प्रपात ऊंचे पर्वत के पार सघन जंगल में है। उसके सौन्दर्य के श्रागे जिम्बाब्वे का विश्वप्रसिद्ध विक्टोरिया जलप्रपात मुझे फीका लगा। श्राधुनिक पर्यटन सुविधाश्रों का होना न होना, यही एक श्रन्तर है।

राष्ट्रभक्त शास्त्रीजी

चित्तौड़ दुर्ग की एक ऐसी ही यात्रा के श्रवसर पर, एक दिन हमने देखा कि किले का कायाकल्प हो रहा है। युद्धस्तर पर सरसफाई व पुनर्निर्माण का काम चल रहा है। प्राचीन भग्न प्रासादों का जीर्णोद्धार हो रहा है। सड़कों का विस्तार किया जा रहा है। पूछने पर पता चला कि भारत के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री कुछ दिनों में यहां पधारने वाले हैं। कुलपतिजी के प्रयत्नों से वे कुलभूमि भी श्राने वाले थे। पर दैव का खेल कौन जान सकता है? उनका यह भ्रमण उनकी रूसयात्रा के बाद रखा गया था। श्री शास्त्रीजी की ताशकंद में हुई रहस्यमय मृत्यु ने न केवल चित्तौड़गढ को श्रपितु सम्पूर्ण भारत राष्ट्र को स्तब्ध, शून्य श्रौर श्रीविहीन कर दिया। "जय जवान जय किसान" का नारा देने वाला भारत माँ का यह लाल भारतीय राजनीति के गमन में धूमकेतु की तरह उदित होकर दूर क्षितिज में कहीं डूब गया था। श्राबाल वृद्ध वनिता को रोता बिलखता छोड़कर। हमारा यह सौभाग्य न था कि उस श्राधुनिक चाणक्य के दर्शन कर सकें।

सतरंगी धरती

इन लघुयात्राश्रों के क्रम में मैंने मेवाड़-मारवाड़ तथा जयपुर, जैसलमेर तक की इस बलिदानी बहुरंगी वीर सांस्कृतिक परम्पराधनी मिट्टी की की श्रनेक परिक्रमाएं की हैं। श्राज मुझे यह कहते तनिक भी संकोच नहीं कि राजरजवाड़ों की इस धरती पर जो सौन्दर्य भरा पड़ा है—वास्तुकला शिल्पकला, विशेषकर पत्थर पर की गई श्रनुपम कलाकृति, मृण्मूर्त्तियां, देलवाड़े का जैन मन्दिर, विजयस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ श्रादि की सुन्दरता मूर्त्ति-कला के श्रायामों की चरमपरिणति—जितना श्रधिक वहां है, उतना एक स्थान पर इहलोक में श्रौर कहीं नहीं। मैं यहाँ सात समुद्र पार के देशों में भी भारतभ्रमण के विषय में जिज्ञासु व्यक्तियों को यही कहता हूँ कि राजस्थान-भ्रमण बिना उसमें भी चित्तौड़ देखे बिना भारत-दर्शन श्रधूरा है।

चित्तौड़ का मौसम श्रति सुहावना होता है। न बहुत गरम न बहुत ठंडा। स्वास्थ्यप्रद जलवायु। श्रमृततुल्य पानी। कुलभूमि में श्राश्रम के पास ढाक का एक छोटा जंगल था, नाले के पास। उसके पार दूर-दूर तक बंजरभूमि या झाड़ियां थीं। श्रापादमस्तक तक पुष्पित पलाश की पंक्तियों को देखकर ऐसा लगता था कि मानो त्रिभुवन-नन्दिनी श्रनिन्द्य सुन्दरी साक्षात् प्रकृति देवी श्रपने पूर्ण यौवन में सर्वाङ्गभरणा होकर नृत्यमग्न हो। पता नहीं कवियों ने "निर्गन्धा इव किंशुका:" ऐसा क्यों कहा है? इसकी वासन्तिक स्मृति के सौरभ मात्र से श्राज दशाब्दियों बाद भी मेरा हृदय कानन तो श्रत्यन्त तीव्र कास्तूरिक सुगन्ध से रहरहकर सुवासित हो रहा है।

श्री श्रभयजी प्राय: एक श्लोक गुनगुनाया करते थे—"मेवाड़े पञ्चरत्नानि कांटाभांटा च पर्वता। चतुर्थो राजदण्डश्च पञ्चमोवस्त्रमोचनम् ॥" इसकी सत्यता की कसौटी स्वयं मेवाड़ का इतिहास व इसकी माटी है।

[क्रमश:]

—लेखक की प्रकाशनाधीन संस्मरणात्मक कृति "कर्णाली के तट पर" का एक शिक्षाप्रद रोचक अध्याय।

पुण्यभूमि चित्तौड़ के संस्मरण–3

☐ डॉ. वीरदेव बिष्ट, एम ए. पीएच. डी.

क्षितिज का प्रकाश

यह सन् १९६६-६७ की बात है कि गुरुकुल में एक भव्य वार्षिकोत्सव का समायोजन हुआ था। हम भी अब किशोरावस्था की देहरी पर चढ़ चुके थे। इसी अवसर पर गुरुकुल में पहली बार बिजली आई तथा अन्य उल्लेखनीय भौतिक प्रगति भी हुई। उस समय कुलभूमि दुलहन की तरह तो नहीं कहूँगा क्योंकि यह हीनोपमा नहीं तो अजातिक उपमा अवश्य होगी—पुष्पाभरणों से सुसज्जित किसी अत्यन्त कमयिनी सद्यस्नाता तापसी के समान लग रही थी।

बड़े बड़े राजनेता—जिनमें राज्य के मुख्यमन्त्री मोहनलाल सुखाड़िया, राज्यपाल सुप्रसिद्ध विद्वान् डा. सम्पूर्णानन्द, मन्त्री कुम्भाराम आर्य आदि प्रमुख थे—विद्वान् साधु सन्त तथा भजनीक इस महोत्सव की शोभा बढ़ाने पधारे थे। इनको सुनने के लिये हजारों श्रोताओं की भीड़ का तांता तीन-चार दिन तक लगता रहा था। स्वामी समर्पणानन्दजी (पं० बुद्धदेव विद्यालंकार) के दर्शन और उनके गर्जन को सुनने का मेरा सर्वप्रथम अवसर भी यही था।

नये आचार्य

गुरुकुल चित्तौड़ के सर्वप्रथम स्नातक वैदिक वाङ्मय के मर्मज्ञ विद्वान् परम पूजनीय स्वामी वेदानन्दजी वेदवागीश भी इस उत्सव में भाग लेने के लिये अपनी शिष्यमण्डली के साथ पधारे थे। इस दल में थे नैष्ठिक ब्रह्मचारी सर्वश्री सत्यपाल जी और देवव्रतजी आचार्य—जो इस समय डा. देवव्रत आचार्य के रूप में सार्वदेशिक आर्यवीर दल के प्रधान संचालक हैं—वे हमारे व्यायाम प्रशिक्षक भी रहे, तथा सर्वश्री सत्यव्रत 'अग्निवेश' व सत्यव्रत 'निचुम्पुण'। मुझे ऐसा लगता है कि इस अवसर का लाभ उठाकर श्री कुलपतिजी ने इनसे अनुरोध किया होगा कि "आप सब यहीं रहकर अध्ययन अध्यापन करें।" फलतः वे सब उत्सव की समाप्ति पर वापस जाकर पुनः शीघ्र ही स्थायी रूप से रहने के लिये चित्तौड़ लौट आये थे। आचार्य मेधाव्रतजी के निधन के बाद श्री भीमसेनजी वेदवागीश गुरुकुल के आचार्य थे। उनके स्थान पर अब श्री स्वामी वेदानन्दजी वेदवागीश गुरुकुल के आचार्य नियुक्ति हुए। उपर्युक्त उनकी शिष्यमण्डली वेदवागीश कक्षा के छात्रों के रूप में प्रविष्ट हुई। गुरुकुल झज्जर के कठोर हरयाणवी रंग में रंगा हुआ यह दल अति तेजगति वाला था। इसकी चाल पवन गति वाले झज्जर के रथ के लिये तो ठीक थी पर मन्थर गति वाली चित्तौड़ की बैलगाड़ी के लिये ये भारी पड़ते थे। नवनियुक्त आचार्यजी ने छात्रों की शैक्षिक व बौद्धिक प्रगति के लिये यहां बहुत से परिवर्तन करने चाहे तो पुराने और नयों के बीच संघर्ष अनिवार्य था।

इस बीच हरियाणा से आने वाले अतिथियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। इनमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी इन्द्रदेवजी (जो इस समय स्वामी इन्द्रवेश के नाम से प्रसिद्ध हैं) भी एक थे, जो कुछ दिनों के लिये चित्तौड़ आये थे।

मैं स्वामी वेदानन्दजी वेदवागीश की सेवा में नियुक्त हुआ था। फलतः इन सबसे मेरा घनिष्ठ सम्पर्क होता गया तथा मैं इनका स्नेहभाजन बन गया।

नये परिवर्तनों के फलस्वरूप हमारी लेखनकला व भाषणकला में उल्लेखनीय निखार आया। इसके लिये आचार्य जी हमें पानी के पास प्रतिध्वनि होने

वाले स्थानों पर बोलने का अभ्यास करवाते थे जिससे हमारी आवाज में ओजस्विता व माधुर्य भरा जा सके। कभी-कभी जंगल में घंटों खड़े होकर वृक्षों को श्रोता मानकर विभिन्न विषयों पर बोलना पड़ता था। आज यदि देश-विदेश में हजारों श्रोता हमारे भाषणों को सुनकर मन्त्रमुग्ध होते हैं तो इसका परमश्रेय गुरुओं के इस मूलमन्त्र को जाना चाहिये। आचार्यजी के नेतृत्व में विभिन्न स्थानों पर होने वाले यज्ञों तथा वेदपारायण महा-यज्ञों में वेदपाठी बनकर जाने का फल था कि इस वैदिक कर्मकाण्ड में निपुणता प्राप्त करने के साथ-साथ, वेद मन्त्रों के गूढ दार्शनिक अर्थ को समझने व समझाने के योग्य बने।

सफल वर्षेष्टि महायज्ञ

ऐसा ही एक वर्षेष्टि महायज्ञ उनके ब्रह्मत्व में शाहपुरा में हुआ था। शाहपुराधीश सूर्यकुलावतंस आर्य नरेश श्री सुदर्शनदेवजी तथा उनकी पुण्यशीला धर्मपत्नी महारानी इस यज्ञ के मुख्य यजमान थे। पुराने राजप्रासाद में मुख्य यज्ञमण्डप था। एक महीने तक चलने वाला यह यज्ञ प्रतिदिन तीन चरणों में होता था। अपने प्रिय राजा-रानी की भक्तिगंगा में सारी प्रजा नहाती थी। हजारों की भीड़ रहती थी। इस श्रद्धानुष्ठान से रूठे इन्द्रदेव भी ऐसे रीझे कि पूर्णाहुति के दिन घनघोर मुसला-धार वर्षा हुई। इससे न केवल वर्षों का सूखा काफूर होकर भाग गया अपितु सारे ताल-तलैया आकण्ठ पानी में डूब गये। इस अमृत वर्षा से वह प्रदेश धन धान्य से तो अवश्य समृद्ध हुआ ही, हमें सर्वाधिक प्रसन्नता हुई कि लोगों का अनादि वैदिक विज्ञान पर पुनः दृढ विश्वास लौट आया। हम सबको—जिनमें आचार्य तथा ब्रह्मचारी सम्मिलित थे—काले मेघों के समान पर्वताकार हाथियों पर चढ़ाकर पुष्पमालाओं से लाद दिया गया। रंगों की होली खेली गई। हम नरेश के विशिष्ट अतिथि भी बने, जहाँ उन्होंने हमें सुस्वादु दिवा भोज देने के साथ-साथ अपने प्रिय प्रशिक्षित कुत्तों के आश्चर्य-जनक विभिन्न खेल भी दिखाये थे।

गुरुकुलों का संघटन

सन् १९६८ में आर्षपाठविधि वाले सभी स्वतंत्र गुरुकुलों को संघटित कर एक पाठ्यक्रम तथा एक परीक्षा प्रणाली वाली संस्था श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्यापीठ की स्थापना का विचार समाचार प्रकाश में आया। हमारे आचार्य स्वामी वेदानन्द वेदवा-गीश इसके निर्माण में प्रमुख भूमिका निवाहि कर रहे थे। उनके प्रेरणास्रोत थे गुरुकुल झज्जर के आचार्य श्री भगवान् देवजी (वर्तमान में स्वामी ओमानन्द सरस्वती)। भारत की केन्द्रीय सरकार में इन दोनों की शक्ति के आधारस्तम्भ थे प्रो० शेरसिंह जी। विद्यापीठ की विधिवत् स्थापना से पहले ही हमें इसके प्रत्येक महत्वपूर्ण गतिविधि की जानकारी रहती थी। फलतः हम इसके सम्भाव्य-मान पाठ्यक्रम के अनुसार अपनी अध्ययन-योजना बना चुके थे और उस पर चल भी पड़े थे।

सांकेतिक रूप से उपरोक्त वैमनस्य के कारण हो अथवा अन्य कोई कारण रहा हो, कुलपति जी सहित गुरुकुल चित्तौड़ की पुरानी पीढी ने या यूँ कहिये स्थानीय लोगों ने इस योजना में सम्मिलित होने से साफ इनकार कर दिया। आर्ष पाठविधि के प्रबल पक्षपाती और इसके उत्थान के लिये आजीवन संघर्षरत, निडर संन्यासी स्वामी व्रतानन्द जी महाराज ने ऐसा किसके इशारों पर किस विवशता के कारण और किस मोहमाया में फंसकर किया ? यह बात आज तक मेरे लिये एक गूढतम रहस्य बनी हुई है।

नृशंस हत्या

यह सब इधर चल ही रहा था कि एक अनहोनी घटना ने गुरुकुल को हिला कर रख दिया। हुआ यह कि श्री अभयजी ने गम्भीरी नदी के किनारे पर, कृषियोग्य भूमि का एक विवादास्पद बड़ा भूखण्ड, किसी हिन्दू मन्दिर से खरीद लिया। वस्तुतः मन्दिर से पहले यह जमीन

एक मुसलमान परिवार की थी। मन्दिर वाले इसको खरीद कर भी, इस पर पूर्ण स्वत्वाधिकार के साथ इसका सदुपयोग न कर सके थे। इस प्रकार यह भूमि कुछ कम मूल्य में उन्होंने अभयजी को बेच दी थी। विवाद पूर्ववत् जारी रहा। यद्यपि यह भूमि श्री अभयजी की निजी सम्पत्ति थी, पर कुल व अभयजी उस समय पर्यायवाची शब्द थे अतः इसके गौरव की रक्षा के लिये सम्पूर्ण कुल जीजान से जुट गया। आंखमिचौनी का खेल चलता रहा। कभी उस जमीन पर दिन भर हम बैठे रहते, तो कभी बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान।

ऐसे ही एक दिन हम विद्यार्थियों को वहां जाने में देर हो गई। जब हम दिन चढ़े वहां पहुंचे तो, लाठी, भाला तथा अन्य हाथ हथियारों के साथ ५०-६० जनों की मुस्लिम भीड़ वहां कब्जा कर चुकी थी। हम सब कुछ दूरी पर एक पेड़ के नीचे जमा होकर बैठ गये। हममें से एक विद्यार्थी सुशीलकुमार (अहमदनगर) ने, हंसी विनोद में श्री संतोषी वानप्रस्थी—जो देवा के साथ गुरुकुल गौशाला के संचालक थे—से कह दिया "कायर की तरह क्या खड़े हो?" इतना क्या सुनना था कि वे भी बिना तैयारी के ही "वे मेरा क्या बिगाड़ लेंगे?" ऐसा कहकर उस मुस्लिम भीड़ की ओर बढ़े। पहले श्री अभयजी का यही निर्णय था कि आज हम शांत यहीं बैठे रहेंगे। शत्रु की पूर्ण तैयारी को देखते हुए यह निर्णय नीति अनुरूप ही था। श्री संतोषीजी कुछ ही पग आगे बढ़े थे कि मुसलमानों की वह पूरी भीड़, ततैये के छत्ते की तरह लाठियों की बौछार के साथ उन पर टूट पड़ी। अब श्री अभयजी आदि के पास, इसके सिवाय कोई अन्य रास्ता न था कि, उनको जाकर बचाया जाये। बस, शत्रु पक्ष को इसी की प्रतीक्षा थी—जो किराये पर दूर-दूर से गुंडे लेकर आये थे—दोनों पक्षों के बीच भयानक संघर्ष हुआ। इस ओर लाठियां न होकर हल्की बेतें ही थीं। ६० जनों का वह समूह पहले संतोषीजी पर तथा बाद में मात्र अभयजी पर टूट पड़ा और उन पर लोहे के मूठ वाले लाठों से अंधाधुन्ध चोट करने लगा। उनको लगभग मृतावस्था में छोड़कर वे सब भाग गये। इधर श्री आचार्य स्वामी वेदानन्द वेदवागीश, सत्यव्रत "अग्निवेश", बलदेव व प्रकाशचन्द्र आदि को भी गम्भीर चोटें आईं। मई-जून की झुलसा देने वाली गर्मी में, हम सब श्री संतोषीजी तथा श्री अभयजी को विवश हो पैदल ही, नगर अस्पताल ले गये, जो लगभग ५-७ किलोमीटर दूर था। जहां दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त में अचेतावस्था में ही श्री अभयजी का स्वर्गवास हो गया। श्री संतोषीजी भाग्यशाली थे कि रक्तस्राव बाहर की ओर होने के कारण बच गये।

ऐसी अन्यायपूर्ण जघन्य क्रूरहत्या अन्य किसी स्थान पर होती तो, शायद एक प्रचण्ड हिन्दू मुस्लिम दंगे का कारण बन सकती थी। पर ऐसा लगा कि चित्तौड़ का अतीत का हिन्दू गौरव मटियामेट, पददलित व नपुंसक बन चुका था। उस समय न केवल चित्तौड़-मेवाड़ में अपितु पूरे राजस्थान में इस काण्ड की व्यापक चर्चा-परिचर्चा तथा कानाफूसी जरूर हुई पर उससे आगे और कुछ न हुआ।

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—जिन्हें गोरक्षा आन्दोलन में अति प्रसिद्धि मिली—ने भी चित्तौड़ आकर हिन्दुओं की कायरता के लिये उन्हें धिक्कारते हुए ललकारा भी, पर मृतदेह में प्राण कौन फूंक सकता है?

बंसल नाम से कुख्यात स्थानीय हिन्दू वकील की सहायता से, वे सब नरपिशाच हत्यारे, छोटी छोटी अवधि के कारावास का दंड भोगकर, थोड़े ही दिनों में सीना तानकर वहीं घूमते मिले।

यही एक क्रूर काला अध्याय है, जो चित्तौड़ की मेरी मधुर स्मृतियों में वेदना दायक कील की तरह चुभा हुआ है।

उड़ चला मन पंछी

परमप्रिय उपाध्याय श्री वीरेश्वरजी 'अभय' विहीन चित्तौड़ हमें सूना-सूना लगने लगा। मन का पंछी कहीं उड़ जाने को उतावला हो गया। आचार्यजी सहित प्रगतिशील दल के अन्य सदस्य भी एक के बाद एक गुरुकुल छोड़कर जाने लगे। इसका एक कारण यह भी था कि, श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्यापीठ की विधिवत् स्थापना हो जाने के बाद श्री स्वामी वेदानन्द वेदवागीश इसके प्रस्तोता (रजिस्ट्रार) तथा श्री सत्यव्रत 'अग्निवेश' इसके मुख्य परीक्षा निरीक्षक नियुक्त हुए थे। विद्यापीठ का प्रधान कार्यालय गुरुकुल झज्जर, रोहतक (हरयाणा) में रखा गया था। इसलिये भी इन सबको अब वहां जाना आवश्यक हो गया था।

इन्हीं विविध घटनाजन्य परिस्थितियों में "केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" इस सूक्ति के अनुसार, पूर्व योजनानुसार लम्बी-लम्बी गूढ कूटनीतिक मन्त्रणाओं के बाद, असमंजस की अवस्था में "आगे ईश्वर भला करेंगे" इस दृढ़ विश्वास के साथ, मैंने अपने जीवन की पतवार श्री स्वामी वेदानन्द वेदवागीश तथा गुरुभाई श्री सत्यव्रत 'अग्निवेश' के हाथों में थमा दी और सन् १९६९ के दिसम्बर के अन्त में या सन् १९७० के जनवरी मास की किसी अर्धरात्रि में, कम्बल ओढकर लुकते-छिपते चित्तौ से दिल्ली की ओर जाने वाली रेल में बैठ गया। गाड़ी न चलने तक डर लगा रहा कि, कहीं कोई आ न जाये और मैं पकड़ा न जाऊं।

यहां यह कहना न होगा कि यह 'प्रव्रजन' या 'महानिष्क्रमण' मेरे उज्ज्वल भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर गया और मेरे उपरोक्त दोनों पथ-प्रदर्शकों ने—जो मेरे गुरु, माता, पिता और बन्धु-बान्धव सभी कुछ सिद्ध हुए—अपनी मृत्यु तक इस अबोध बालक का हाथ कभी न छोड़ा। मैं आज जो कुछ भी हूँ, वह सब, उन्हीं दोनों के परम आशीष का पुण्य फल है।

छक्-छक्-छक्-छक् करती जीवन की यह रेल यात्रा जारी है और चित्तौड़ का वह रेल्वे स्टेशन कहीं दूर छूट गया है।

उपसंहार

प्रभु से मेरी यही दैनंदिन विनीत प्रार्थना है कि, न केवल दूसरे जन्म में अपितु जन्मजन्मान्तरों में भी, मेरे सुकोमल बालजीवन को ज्योतिष्पथ के सांचे में ढालने के लिये, मुझे पुनः पुनः वही पुण्यभूमि, वही परिवेश और गुरुजनों का वही पुण्यलोक प्राप्त हो।

—लेखक की प्रकाशनाधीन संस्मरणात्मक कृति "कर्णाली के तट पर" का एक शिक्षाप्रद रोचक अध्याय।